जैन-दर्शन का हृदय है—'स्याद्वाद'

परमविदुषी श्री कुसुमवतीजी म. की सुशिष्या
विदुषी साध्वी चारित्रप्रभा जी म. सा,

'स्याद्वाद' जैनदर्शन का हृदय है, और भारतीय दर्शनों को परस्पर जोड़ने वाला एक मात्र सूत्र है। इसलिए जैन दार्शनिक चिन्तन में "स्याद्वाद" को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यद्यपि इसके बीज, बिन्दुरूप में, सहस्राब्दियों पूर्व से ही, जैन-आगमों में "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप में, "अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य'-रूप" में, "द्रव्य-गुण-पर्याय"-रूप में तथा सात नयों के रूप में यत्र-तत्र प्रकीर्ण, उपलब्ध रहे हैं, किन्तु इन्हीं सबको व्यवस्थित कर "सप्तभंगी" के रूप में, इसे एक स्पष्ट संज्ञा प्रदान करने में समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे आचार्यों के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। बाद के अनेकों आचार्यों ने इसे लक्ष्य बनाकर विशाल वाङ्मय की रचना की। विगत ५०० वर्षों से दार्शनिक जगत के एक-एक सजीव पक्ष के रूप में इसे गौरव मिला है। आइये, पर्यालोचन करें, कि "स्याद्वाद" आखिर है क्या? और मानव जीवन व्यापार में इसकी उपयोगिता क्या हो सकती है।

"स्याद्वाद" शब्द "स्यात्" और "वाद" इन दो शब्दों को मिलाकर बनता है। प्रथम "स्यात्" का अर्थ होता है—अपेक्षा यानी "दृष्टि"। 'वाद" का अर्थ है—"सिद्धान्त" यानी मन्तव्य। अतः दोनों शब्दों को मिलाने पर इनका सम्मिलित अर्थ होगा—"सापेक्ष सिद्धान्त" अर्थात् वह सिद्धान्त, जिसका आधार अपेक्षा हो। "अनेकान्तवाद" "अपेक्षावाद" "कथंचित्वाद" "स्याद्वाद" आदि अनेक नाम इसके हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति "अनेकान्तवाद" और "स्याद्वाद' का पृथक्-पृथक् अर्थ मान सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को यह ध्यान रखना पड़ेगा कि "अनेकान्त" का अर्थ होता है—"अनेक धर्म"। इन धर्मों की जब विवेचना की जायेगी तो वह सारे धर्मों को युगपद् विवेचित करने में समर्थ नहीं बन पाती। जब भी विवेचन होगा, क्रमशः एक-एक धर्म को लक्ष्य करके ही किया जा सकेगा। फलतः यह विवेचना, एक क्रमिकता, "अनेकान्त" में नहीं है, वरन् उसके "कथन" में, यानी "वाद" में है। इसलिए अनेकान्तों का जो जो स्वरूप होता है, वह "वाद" में सुरक्षित नहीं रह पाता। यह "वाद" की यानी "कथन", "भाषा" की विवशता है। इस विवशतावश प्रयुक्त क्रमिकता को "यौगपद्य" का ही रूप मानना पड़ता है। अन्यथा "अवक्तव्य" कहकर हम "अनेकान्त" की विवेचना नहीं कर पायेंगे। निष्कर्ष यह है कि "अनेकान्त" वस्तुगत स्वरूप है, जो तमाम अपेक्षाओं से संवलित है। अतः उसका कथन भी, "अनेकान्तवाद" स्वरूप वाला मानना होगा। अन्यथा "अनेकान्त" स्वरूप और "अनेकान्तवाद" दो अलग-अलग संज्ञाएँ बन जाने पर एक विलक्षण समस्या उठ खड़ी हो जाती है। अतएव "अनेकान्त" और "स्याद्वाद" को समानार्थवाची माना जाता है। इस समानार्थकता से जो शाब्दिक अन्तर पैदा होता है, उसे दृष्टिगत करते हुए, हम मोटे तौर पर यह मान सकते हैं कि—"अनेकान्त" अनेक धर्मात्मक पदार्थ स्वरूप "वाच्य" है, और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद उसका वाचक है। वस्तुतः "अनेकान्त-वाद" और "स्याद्वाद" में, यह सूक्ष्म अन्तर बनता ही नहीं है। यह अन्तर तभी बन पाता है, जब हम "अनेकान्त" के साथ "वाद" शब्द न जोड़े।

"प्रवचनसार" की मन्यता के अनुसार "स्याद्वाद" वह सिद्धान्त है, जिसमें परस्पर विरुद्ध धर्मों का समन्वय विभिन्न अपेक्षाओं के साथ मुख्यता और गौणता के आधार पर किया जाता है।[1] जैसे एक न्यायाधीश, अपनी सूक्ष्म विवेकिता के आधार पर निष्पक्ष निर्णय देने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है, उसी तरह विभिन्न विचारों में समन्वय साधने के लिए, न्यायाधीश जैसा ही कार्य "स्याद्वाद" निभाता है। इसी आधार पर स्याद्वाद के विशेषज्ञ विद्वान इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—"अपने और दूसरों के विचारों में, मतों में, और कार्यों में उनकी मूल-भावनाओं का समन्वय करना "स्याद्वाद" है।[2] इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने सुन्दर शब्द चित्र प्रस्तुत किया है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्व मितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।[3]

इस परिभाषा को अष्टसहस्रीकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—प्रत्यक्षादि प्रमाणाविरुद्धानेकात्मक वस्तु प्रतिपादकः श्रुतस्कन्धात्मको स्याद्वादः"।

ये परिभाषाएँ स्पष्ट करती हैं कि "अनेकान्त-वाद" और "स्याद्वाद के शाब्दिक अर्थों का भेद, कोई अर्थ नहीं रखता। यही तथ्य इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि जैन दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों से अभिव्यक्त पदार्थ के स्वरूप विवेचन के लिए जो एक शैली/पद्धति सुनिश्चित्त की है, उसे उन्होंने "सप्तभंगी" नाम दिया है। और इसकी परिभाषा, एक राय होकर इस प्रकार की है—"प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना "सप्तभंगी"। सप्तानां 'भंगाना' समाहारः सप्तभंगी। —इतिवा।

जैन दार्शनिक मानते हैं कि किसी भी एक वस्तु में, सात प्रकार के ही संशय, प्रश्न उत्पन्न होते हैं। क्योंकि, वस्तु में सात धर्मों की ही, प्रमाणों के अनुसार सिद्धि होती है। अतः इन धर्मों से सम्बन्धित प्रश्नों, जिज्ञासाओं के उत्पन्न होने पर इन प्रश्नों के समाधान हेतु सात प्रकार के ही उत्तर अपेक्षित होते हैं। इन सात उत्तर वाक्यों को ही 'सप्तभंगी' शब्द के द्वारा कहा गया है। किन्तु इन सातों वाक्यों में अर्थात् प्रत्येक वाक्य में 'एव'—ही शब्द का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। और, प्रत्येक वचन, कथन में, एक—'अपेक्षा' विशेष निहित होने के कारण, उसके सूचक 'स्यात्' शब्द का प्रयोग भी प्रत्येक वाक्य में अनिवार्यतः करना होगा। अन्यथा 'घट' का विवेचक वाक्य, 'पट' का विवेचक भी हो सकता है, यह खतरा पैदा हो जायेगा। इन सात उत्तर वाक्यों अर्थात् सात भंगों के प्रकार निम्नलिखित होते हैं—

१. स्यादस्त्येव घटः,
२. स्यान्नास्त्येव घटः,
३. स्यादस्ति-नास्त्येव घटः
४. स्यादवक्तव्य एव घटः
५. स्यादस्त्यवक्तव्य एव घटः
६. स्यान्नास्त्यवक्तव्य एव घटः
७. स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य एव घटः

इनमें से प्रथम वाक्य में 'घट' अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से घट ही है। न कि 'पट' आदि अन्य कुछ। दूसरे वाक्य में, 'घट' पर-द्रव्य-

---

१ प्रवचनसार २/७
२ आप्तमीमांसा १०४
३ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से (पर-रूप) नहीं ही है। जबकि तीसरे वाक्य में 'घट' अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भी क्रमिक अपेक्षाओं से, क्रमशः 'घटरूप ही है। पट आदि अन्य रूप नहीं है।' किन्तु यही दोनों अपेक्षाएँ युगपत् एक साथ उत्पन्न हो जायें, तब उनका समाधान भाषा के वश के बाहर हो जाता है। इसीलिए उसे 'अवक्तव्य'—'अकथनीय' ही है, यह कहा जाता है। चतुर्थ वचन का यही आशय है। यहीं से यह स्पष्ट होता है कि मौलिक रूप से तो प्रथम तीन ही भंगों की सार्थकता है। शेष भंगों की उत्पत्ति; इन्हीं तीनों से सम्बद्ध अपेक्षाओं के सम्मिश्रण से होती है।

उक्त सात कथन-वाक्यों में 'एव' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि वाक्य का अर्थ 'घट' का ही बोध कराये, पट आदि का नहीं। यदि इस 'एव' शब्द का प्रयोग न किया जाये तो, जिस तरह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से 'घट' के अस्तित्व का बोध होता है, उसी तरह पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को अपेक्षा की भी अवसर मिल जाने से घट, अस्तित्ववान् रहते हुए भी 'पट' के अस्तित्व का बोध भी होने लग जायेगा। यह अव्यवस्था, तत्व बोध में न होने पाये; इसीलिए वाक्य-भंग में 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाना अनिवार्य माना गया है।

इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि यह 'स्यात्' शब्द एक अपेक्षा विशेष का ज्ञान कराता है।

जिससे, यह ज्ञान भी होता है कि वस्तु-तत्व में और भी अपेक्षाएँ हैं। इन अनेक अपेक्षाओं का अहसास कराने के लिए ही 'स्यात्' शब्द की अनिवार्य प्रयोगता रखी गई है।[1] चूँकि वस्तु-तत्व में अनेक धर्म हैं। ये धर्म हर समय, वस्तु में विद्यमान रहते हैं। जब, किसी एक अपेक्षा से वस्तु तत्व के बोध की आवश्यकता होती है, तब भी उसमें अन्य सारे धर्म विद्यमान रहते हैं। इन दूसरे धर्मों की अपेक्षाएँ वांछित अपेक्षा के साथ सम्बद्ध होकर अपने उत्तर न माँगने लग जायें, यह बचाने में ही 'स्यात्' शब्द के अनिवार्य प्रयोग की सार्थकता निहित है।

भारतीय दार्शनिकों ने स्याद्वाद की सापेक्षता को सहज ही स्वीकार कर लिया है, किन्तु पश्चिमी विद्वानों ने भी इसकी उपादेयता को कम महत्व नहीं दिया।

इसीलिए पश्चिमी और भारतीय कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त की स्पष्टता, सहजता और कठिनता को भी सिद्ध करने के लिए अपनी-अपनी लेखनियाँ उठाई हैं। हालांकि इस सिद्धान्त की आलोचना शंकराचार्य जी ने पर्याप्त की थी। पर, उनकी इस आलोचना के औचित्य पर प्रयाग विश्व विद्यालय के तत्कालीन कुलपति डा० गंगानाथ झा द्वारा की गई टिप्पणी विशेष उल्लेखनीय मानी जा सकती है। वे लिखते हैं—जब मैंने शंकराचार्य जी द्वारा किए गए जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा, तभी मुझे यह विश्वास हो गया था कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ (सार) होना चाहिए, जिसे वेदान्त के ज्ञाता आचार्य ने ठीक से नहीं समझा। मैंने अब तक जैन-दर्शन का जो भी, जितना अध्ययन किया है, उसके आधार पर मैं यह दृढ़ विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि यदि शंकराचार्य महोदय ने जैन दर्शन के मौलिक ग्रन्थों को देखने का कष्ट किया होता, तो उन्हें स्याद्वाद सिद्धान्त का विरोध करने का अवसर न मिलता।[2]

डा. झा की उक्त टिप्पणी से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शंकराचार्य महोदय ने स्याद्वाद के उस

---

१ तत्वार्थराजवार्तिक १/१६/५
२ जैनदर्शन (साप्ताहिक) १६/६/३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठिनतम पक्ष को ही देखा, जिसके लिए यह सिद्धान्त विश्व में प्रसिद्ध है। एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य जैसे परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता कैसे हो सकती है। यह है इस सिद्धान्त की जटिलता।

इसी जटिलता को लक्ष्य कर, बहुत से विद्वानों ने इस सिद्धान्त की जमकर आलोचनाएँ की हैं। किन्तु यही तथ्य, जब परस्पर विरोधी धर्मों की उपस्थिति, एक ही पदार्थ में मानने जैसी बात, सामान्य व्यक्तियों की समझ में नहीं आ सकती, तब, उन्होंने इसी सिद्धान्त की विवेचना, इतने सरल शब्दों में कर डाली कि छोटे से छोटा बालक तक बिना किसी श्रम के आसानी से समझ ले।

जैसे, एक स्वर्णकार सोने के घड़े को तोड़कर, सोने का मुकुट बना रहा है। इसी समय उसके पास तीन ग्राहक आ जाते हैं। इनमें से एक ग्राहक सोने का घड़ा खरीदना चाहता था, तो दूसरा सोने का मुकुट खरीदने की इच्छा लेकर आया था, जब कि तीसरे को स्वर्ण की आवश्यकता थी। उस स्वर्णकार की क्रिया प्रवृत्ति को देखकर पहले ग्राहक को कष्ट का अनुभव हुआ, तो दूसरे को प्रसन्नता भी हुई, जबकि तीसरे ग्राहक के मन में कष्ट और प्रसन्नता जैसा कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। वह उस स्वर्णकार को तटस्थभाव से देखता रहा। ऐसा क्यों हुआ ?

इसका कारण यह है कि प्रथम ग्राहक स्वर्ण-घट खरीदना चाहता था, परन्तु स्वर्णकार को सोने का घड़ा तोड़ते हुए देखकर उसे कष्ट का अनुभव होना सहज ही है। दूसरा ग्राहक उसी स्वर्णकार को अपनी मनचाही वस्तु—स्वर्णमुकुट बनाते हुए देखकर प्रसन्नता अनुभव करे, यह भी एकदम सहज ही है। तीसरा ग्राहक, सोना ही चाहता था अतः स्वर्ण घट को तोड़ने से या स्वर्ण मुकुट बनाने से, उसे अपनी इच्छित वस्तु पाने में कोई फर्क नहीं पड़ता था। इसलिए उसकी तटस्थता भी सहज मानी आनेगी।

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है—एक ही पदार्थ—"स्वर्ण" में, एक ही समय में, एक व्यक्ति "विनाश" को होता हुआ देख रहा है, तो दूसरा "उत्पत्ति" को, और तीसरा "ध्रौव्य" को। ये तीनों ही दशाएँ; परस्पर विरोधी हैं, फिर भी एक ही समय में, एक ही पदार्थ में यह भी पायी जाती हैं।

इसी तरह, विश्व की प्रत्येक वस्तु में, एक ही समय में, एक साथ तीनों स्थितियाँ रहती हैं। इसी तथ्य को जैनदार्शनिकों ने वस्तु मात्र की "त्रिगुणात्मकता" कहा है, और यह त्रिगुणात्मकता वस्तुमात्र का सहज-स्वभाव है।[1] इसी तरह वस्तु मात्र में, भिन्न अपेक्षाओं से अनेकों परस्पर विरोधी धर्म, एक समय में एक साथ बने रहते हैं।

उक्त उदाहरण स्याद्वाद की सहजता, सरलता का द्योतक है। वास्तविकता यह है कि "स्याद्वाद" उक्त उदाहरण से भी अधिक सरल है। इतना सरल कि—रास्ता चलते समय कोई बालक आप से स्याद्वाद के बारे में प्रश्न पूछ ले तो भी आप आराम से समझा सकें। संयोगवश, एक जैनाचार्य महोदय के साथ ऐसी ही स्थिति, आ भी गई। विहार-यात्रा में सड़क मार्ग से जाते हुए, उन्हें किसी बालक ने पूछा—"भगवन् ! आपका स्याद्वाद क्या है ?"

आचार्य ने अपने एक हाथ की 'कनिष्ठा' और "अनामिका"। उंगलियों को ऊपर उठाकर, उस बालक से पूछा—"बतलाओ वत्स ! इन उँगलियों में कौन उंगली बड़ी है ?"

---

१ आप्तमीमांसा ५९/६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालक ने उत्तर दिया—"अनामिका"।

अब आचार्य ने कनिष्ठा के स्थान पर 'मध्यमा' को "अनामिका" के साथ ऊपर उठाया, और बालक से पुनः पूछा—"अब बतलाओ, इन दोनों उंगलियों में कौन उँगली छोटी है ?"

बालक ने उत्तर दिया—'अनामिका"।

यह उत्तर सुनकर आचार्य ने उसे समझाया जिस तरह तुमने एक ही उँगली को "बड़ा" और "छोटा" कहा, उसी तरह यह "स्याद्वाद" भी एक ही पदार्थ में स्थित, परस्पर-विरोधी धर्मों की बात बतलाता है।"

आचार्य की बात सुनकर बालक हँसता हुआ चला गया। यही है इस सिद्धान्त की सहजता/सरलता, जो किसी भी विद्वान का ध्यान अपनी और बरवश आकृष्ट कर लेती है।

"स्यादाद" सिद्धान्त में नयों की बहुमुखी विवक्षा हमेशा ही रहती है। क्योंकि जिस किसी भी पदार्थ का, जो अर्थस्वरूप, स्याद्वाद द्वारा अलग करके विवक्षित किया जाता है, उसी अर्थ/स्वरूप की अभिव्यन्जना करने वाले "नय" होते हैं।[1] नीयते-साध्यते गम्यते मानोऽर्थः येन"—इस व्युत्पत्ति से "नय" का उत्तम उक्त स्वरूप ही स्पष्ट होता है।

ये "नय" सात हैं। इन्हीं पर "स्याद्वाद" का या सप्तभंगों का आधार स्थित है। ये सात नय है :—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत।

उक्त सातों नयों को मूलतः दो विभागों में विभाजित किया गया है—'द्रव्यार्थिक" और "पर्यायार्थिक"। कुछ आचार्यों ने "नैगम" और "संग्रह" को द्रव्यार्थिक के अन्तर्गत माना है जबकि कुछ आचार्य मात्र "नैगम" को ही "द्रव्यार्थिक" के अन्तर्गत मानते हैं। द्रव्यार्थिक नय, मात्र "सामान्य" का ही गुण ग्रहण करता है, इसलिए इसके अन्तर्गत वस्तुतः केवल नैगम का ही समावेश मानना उचित होगा। पर्यायार्थिक नय, भेद विवक्षाओं को, और "विशेष" को भी ग्रहण करता है। अतः शेष छः ही नयों को, इसके अन्तर्भूत माना जाता है। इन सात नयों के अन्य उपभेद बहुत से हैं।

उनका सामान्य विवेचन भी यहाँ विस्तार का कारण बन सकता है। किन्तु इन्हीं सातों नयों को एक दूसरी अपेक्षा से "निश्चयनय" और "व्यवहारनय" के भेदों, उपभेदों के रूप में विभाजित और व्यवहृत किया जाता है। इसलिए इनके सम्बन्ध में भी, कुछ कहना उचित ही होगा।

"स्याद्वाद" सिद्धान्त का व्यावहारिक उपयोग करते समय, वस्तुतः नयों के "निश्चय" और "व्यवहार" भेदों की ही विशेष अपेक्षा प्रतीत होती है। क्योंकि, सप्तभंगी के सन्दर्भ में जो भी प्रासंगिक विशिष्ट अपेक्षाएँ जागृत होती हैं, उन का मुख्य सम्बन्ध "निश्चय" व व्यवहार से ही जुड़ता है।

क्योंकि, प्रत्येक द्रव्य व्यवहार में हमें जैसा दिखलाई पड़ता है, वस्तुतः वह वैसा होता नहीं। उसके और भी अनेकों रूप होते हैं, हो सकते हैं, यह बतलाने वाला नय है—"निश्चयनय"। इसी तथ्य को आचार्यों ने इस पंक्ति में व्यक्त किया है—"तत्वार्थ निश्चयो वक्ति व्यवहारश्च जनोदितम्।[2] इस कथन को निम्नलिखितः उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है।

एक बार भगवान् महावीर से पूछ गया—"भगवन् ! फाणित प्रवाही गुड़ में कितने वर्णरसगन्ध होते हैं ?

भगवान ने उत्तर दिया—'व्यवहार में तो मात्र 'मधुर' रस ही उसमें में है, यह कहा

---

१ आप्तपरीक्षा १०८

२ द्रव्यानुयोगतर्कणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायेगा किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से उसमें पांचों वर्ण, दोनों गंध, पाँचों रस, और आठों स्पर्श होते हैं।

इस उत्तर का आशय यह है कि वस्तु का जो स्वरूप इन्द्रियग्राह्य होता है, वह जिस तरह का होता है, उससे भिन्न प्रकार का उसका वास्तविक स्वरूप होता है।

हम सब उसी बाह्य स्वरूप को देख पाते हैं, जो इन्द्रियग्राह्य होता है। सर्वज्ञ तो निश्चय रूप में, उसके 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' दोनों हो स्वरूपों को देखते जानते हैं। सापेक्षवाद के अधिष्ठाता डा० अलबर्ट आइंस्टीन ने भी अपना आशय इसी तरह का व्यक्त किया है।' वे कहते हैं—'हम तो केवल आपेक्षिक सत्य को ही जानते हैं।[1] सम्पूर्ण सत्य को तो सर्वज्ञ ही जानते हैं। चूँकि, सर्वज्ञ का ज्ञान, 'केवलज्ञान' होता है, इसलिए वह 'पूर्णज्ञान' भी होता है। इसी कारण वह द्रव्य की समस्त विवक्षाओं को भली-भाँति जानते हैं।

वस्तु/पदार्थ की सापेक्षता को स्वीकार करने के लिए ही स्याद्वाद सिद्धान्त के अन्तर्गत सप्तभंगों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बिना किसी भी पदार्थ के स्वरूप को पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। जैसे, आम का एक फल अपने से बड़े आकार वाले फल की अपेक्षा से 'छोटा' होता है, और अपने से छोटे फल की अपेक्षा से 'बड़ा' भी होता है।

दोनों अपेक्षाओं को दृष्टि से आम के फल में 'लघुत्व' और 'दीर्घत्व' दोनों ही रूपों को जब स्वीकार किया जायेगा तभी आम का स्वरूप पूरा माना जाएगा क्योंकि, केवल लघुत्व आम फल की सम्पूर्णता का ज्ञान नहीं कराता, न ही उसका केवल 'दीर्घत्व' उसके सम्पूर्ण स्वरूप का परिचायक बन पाता है। बल्कि, इन दोनों स्वरूपों का सम्मिलित रूप ही आम्रफल के समग्र-स्वरूप का द्योतक/बाधक बनता है।

इसलिए स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल-भाव की अपेक्षा से और पर-द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से भी वस्तु का जो स्वरूप निश्चित होता है वही स्वरूप, वस्तु मात्र का वास्तविक स्वरूप होता है।

इसी वास्तविक स्वरूप को व्याख्या करने के लिए दार्शनिक जगत् का एक मात्र सिद्धान्त 'स्याद्वाद' ही है। यह न केवल लोक व्यवहार को वरन् पदार्थ मात्र को अपना विषय बनाता है।

'स्याद्वाद' शब्द में 'स्यात्' शब्द को राष्ट्रभाषा हिन्दी के 'शायद' शब्द का पर्यायवाची मानकर कुछ विद्वानों ने इसे 'संशयवाद' की संज्ञा दी है, तो कुछ विद्वानों ने इसे सप्तभंगी वाक्यों में आये 'अस्ति-नास्ति' शब्दों का अर्थ ही सही सन्दर्भ में न समझकर इसे 'अनिश्चिततावाद' की संज्ञा प्रदान की है।

इस तरह की शंकायें, उन्हीं व्यक्तियों द्वारा उठाई जाती हैं, जो आलोच्य सिद्धान्त के मर्म को समझे बिना ही, स्व-इच्छित रूप से, कुछ भी कह देते हैं। वस्तुतः इन दोनों ही शंकाओं को पूर्वलिखित विश्लेषणों के अनुसार, सिर उठाने का अवसर ही नहीं मिलता। वैसे भी जिन जैनेतर विद्वानों ने इसके मर्म को आत्मसात् किया है, वे दृढ़ता के साथ, यह कहने में भी संकोच नहीं करते कि 'स्याद्वाद' ही जैनदर्शन का हृदय है।

---

१ कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org